साहित्य का समाजशास्त्र

प्रफुल्ल कोलख्यान

आज के समय में विचार की दुनिया अपने उथल-पुथल के नये दौर से गुजर रही है। ऐसे में किसी भी विचार को आँख मूँदकर अपना लेने को अपने खतरे हैं। वैसे सच तो यह है कि आँखवालों ने कभी किसी विचार को आँख मूँदकर नहीं अपनाया, हालाँकि आँख पर शुरू से ही खतरे बने हुए हैं। जब अर्जुन को कृष्ण अपने विचारों से नहीं बदल सके तो उन्होंने उसकी आँख ही बदल दी। कहा कि तुम्हें मैं दिव्य आँख देता हूँ, यह नहीं कहा कि तुम्हारी आँख छीन लेता हूँ, ताकि तुम देख सको वही सब कुछ जो कि तुम्हें दिखाना चाहता हूँ मैं - 'न तु मां शक्यसे द्रष्टुमननैव स्वचक्षुषा। दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमेश्वरम।'[1] अपने दायित्व-पालन के लिए आलोचना को सहयोजी और गतिशील होना पड़ता है। यह विज्ञान और तकनीक के नवोन्मेष का समय है। यह समय सांस्कृतिक प्रक्रियाओं के नवोन्मेष का भी है। जाहिर है कि 'साहित्य आज अनेक प्रकार के पाठकों, श्रोताओं को संबोधित करता है। अनेक प्रकार के उद्देश्यों एवं प्रयोजनों के लिए काम करता है। ऐसी स्थिति में इस अनेकधा विभक्त साहित्य के लिए कहना पड़ता है कि आज इसकी समीक्षा संभव है? हम मानते हैं संभव तो है, पर जिस नवीन समीक्षाशास्त्र की इसके लिए आवश्यकता है उसे अंशतः समाजशास्त्र की भी कृति होना पड़ेगा। यदि ऐसा न हगा तो समसामयिक साहित्य जैसा है और जैसा होना चाहिए दोनों के अधिकांश भाग को छोड़ देना होगा। इसीलिए साहित्यशास्त्र एवं समाज-विद्याओं के मध्य एक संयोजन एवं समन्वय की स्थिति विचारणीय है।'[2]

आलोचना के सामने चुनौती 'समाजशास्त्र की कृति' होने की भी है और साथ ही समाज की कृति होने की भी है। यह चुनौती तब और कठिन हो जाती है जब शास्त्र का ज्ञान और समाज का संवेदन एक दूसरे से भिड़ जाते हैं या भिड़ा दिये जाते हैं। आधुनिकता और जनतंत्र आलोचना की आँख हैं। आलोचना की आँख में आत्म-विरोध और अंतर्विरोध मुक्त आत्म-संगत जीवन के सपनों का सदावास होता है। आलोचना की भी

शुरुआत 'धरती को स्वप्न की तरह देखनेवाली आँख और लोकगीत की तरह गानेवाली आवाज'[3] से होती है लेकिन उसकी यात्रा जीवन की कठिन भूमि पर जारी रहकर ही सार्थक बन पाती है। इस तरह आलोचना जीवन के वन में 'कठिन भूमि कोमल पद गामी'[4] बनकर विचरती है। समय के साथ परंपरा के प्रति जातीय सलूक में भी बदलाव आता है। इस सलूक से परंपरा की छवि में भी बदलाव होता चलता है। अनुभव में नये जुड़ाव के साथ सार्वजनिक-चित्त[5] अर्थात जनता की चित्तवृत्ति[6] में भी बदलाव आता है। जनता की चित्तवृत्ति में बदलाव निरंतर गतिमान प्रक्रिया है। इस गतिमानता में साहित्य के लेखन और साहित्य के मूल्यांकन-पुनर्मुल्यांकन में भी बदलाव आता है। परंपरा कहती है, जैसे 'पिता कहते हैं/ मैं अपनी तस्वीर जैसा नहीं रहा/ लेकिन मैंने जो नयो कमरे जोड़े हैं/ इस पुराने मकान में उन्हें तुम ले लो/ मेरी अच्छाई ले लो उन बुराइयों से जूझने के लिए/ जो तुम्हें रास्ते में मिलेंगी/ मेरी नींद मत लो मेरे सपने लो'[7]। हम 'गोदान' की नींद में नहीं टहलते, गोदान के सपनों की अंतर्यात्रा बार-बार करते हैं; जितनी बार यह अंतर्यात्रा करते हैं, उतनी बार सपनों का पुनर्सृजन करते हैं। सपनों को नींद से अलगाना कितना कठिन है, यह वह किसान बता सकता है जो थोथे के बीच से निकालकर दाना की मुस्कान के सभ्यता की हथेली पर रखे जाने को संभव बनाकर सभ्यता के अश्रुकणों का पुनर्पाठ तैयार करता है। यह एक कठिन जीवन-संघर्ष है। इस कठिन जीवन-संघर्ष में आलोचना चित्त को सँजोती और प्रसन्न रखती है। इसके बावजूद यह सच है कि आलोचना अपने गवाक्ष से खुलते हुए नये क्षितिज की किरणों के स्वागत की तैयारी में ही है।

सामान्य इतिहास का अपना महत्त्व है। इस महत्त्व को कम किये बिना भी साहित्य का इतिहास अलग से तैयार किया जाना जरूरी समझा गया तो इसके अपने ठोस कारण रहे हैं। साहित्य का समाजशास्त्र भी सामान्य समाजशास्त्र से अलग लिखा जाना चाहिए। कहना न होगा कि अलग होने का मतलब विच्छिन्न होना नहीं होता है। देखना यह भी होगा कि साहित्य की समाजशास्त्रीय आलोचना और साहित्य के समाजशास्त्र पर विचार करना क्या एक ही बात है। यह पूरी तरह एक ही बात नहीं है। साहित्य का समाज से गहरा संबंध होता है। समाज को समझे बिना साहित्य को समझना मुश्किल है। यह भी कि समाज विशेष के साहित्य को समझे बिना उस समाज विशेष को समझने में भी अधूरापन रह सकता है।

साहित्य के समाजशास्त्र और सामान्य समाजशास्त्र के अंतर को हम जितनी गहराई से समझ पायेंगे उतनी ही गहराई से हम साहित्य के समाजशास्त्र की जरूरत को भी समझ पायेंगे। यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है कि किसी एक लेख में इसपर मुकम्म्ल बात कर लेना संभव नहीं है; यहाँ जो बात कहने की कोशिश है उसका उद्देश्य इतना भर है कि समर्थ लोग इस दिशा में सोचें और आम-सहमति का वातावरण तैयार किया जाये। सबसे पहली बात तो यही समझ में आती है कि सामान्य समाजशास्त्र का मुख्य काम आँकड़ों और कुछ हद तक

विवरणों से चल जाता है लेकिन संवेदनात्मक स्तर पर व्यक्ति या समाज की मनोदशा को आयत्त करने का कोई अवकाश नहीं बचता है। समान्य समाजशास्त्र रीति-रिवाजों का अध्ययन और वर्णन तो करता है, लेकिन उन रीति-रिवाजों से व्यक्ति एवं समाज के मन और जीवन में उल्लास, आनंद या अवसाद की बहनेवाली तरंगों और व्यक्ति एवं समाज के मन और जीवन पर छा जानेवाले रंगों से उसे कोई खास मतलब नहीं होता है। जैसा कि प्रेमचंद ने कहा था, समाज के संघटन पर ध्यान देने से सहज ही पता चलता है कि 'समाज का संगठन आदिकाल से आर्थिक भीत्ति पर होता रहा है। जब मनुष्य गुफाओं में रहता था, उस समय भी उसे जीविका के लिए छोटी-छोटी टुकड़ियाँ बनानी पड़ती थीं। उनमें आपस में लड़ाइयाँ भी होती रहती थीं। तब से आज तक आर्थिक नीति ही संसार का संचालन करती चली आ रही है, और इस प्रश्न से आँखें बंद करके समाज का कोई दूसरा संगठन चल नहीं सकता।'[8] समाज के संगठन में आर्थिक भीत्ति का आधार सामान्य समाजशास्त्र भी स्वीकारता है लेकिन साहित्य का समाजशास्त्र इस आर्थिक भीत्ति से मानवीय संवेदना को संपृक्त करता है। रवींद्रनाथ ठाकुर के शब्दों को याद करें तो, 'सामाजिक ढाँचे में आदर्श अपना जो रूप ग्रहण करते हैं, उसके दो उद्देश्य होते हैं। एक, हमारी इच्छाओं और महत्त्वाकांक्षाओं को सामंजस्यपूर्ण विकास के लिए नियंत्रण में रखना। दो, दूसरों के प्रति निष्काम प्रेम का संचार करना। इसीलिए, समाज मनुष्य की उन नैतिक और आध्यात्मिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति है जिसका संबंध उसकी उच्चतर प्रकृति से है।'[9] प्रेमचंद और रवींद्रनाथ ठाकुर के इन विचारों को मिलाकर कहा जा सकता है कि साहित्य का समाजशास्त्र इस आर्थिक भीत्ति से मानवीय संवेदना को संपृक्त करते हुए दूसरों के प्रति निष्काम प्रेम के संचार एवं मनुष्य की उच्चतर प्रकृति से जुड़ी नैतिक और आध्यात्मिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति की संभावनाओं को व्यक्ति के अंतर्वैयक्तिक संबंधों के परिप्रेक्ष्य में अपना सिद्धांत निरूपण कर सकता है। आध्यात्मिकता का तात्पर्य आत्म के विस्तार से है --- एक तरह के Extension of self से है। अर्थात, मम में ममेतर (मम+इतर) के अंतर्मिलन और ममेतर में मम के अंतर्लयन से है। जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' की पंक्ति याद करें तो, आध्यात्मिकता अपने सुख को विस्तृत कर, हँसने और सुख पाने की सहज-संभाव्य आत्मिक स्थिति है।

साहित्य के समाजशास्त्र की संभावनाओं को टटोलते समय अपने सामने उपस्थित परिस्थितियों पर सरसरी नजर डालने की जरूरत है। सूचना और संचार की बढ़त के साथ हमारी बेचैनी भी बढ़ रही है। अधिकतर सूचनाएँ न तो आह्लादकारी होती हैं और न ही भविष्य को आश्वस्त करनेवाली। ऐसा नहीं कि जीवन में कुछ भी सुंदर और मनोरम घटित ही नहीं हो रहा है। लेकिन अधितकर मामलों में सतह पर उभरकर भयावह ही सामने आ रहा है। ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियाँ कुछ लोगों के पूँजी हितों को संरिक्षत करने के काम में प्रयुक्त हो रही हैं। पूँजी हितों के संरक्षण में दत्त-चित्त यह सभ्यता इसे ही सबसे बड़ा हित मान रही है, मानव हित से भी बड़ा! कहा जा सकता है कि हमारा समय एक तरह के

नकारात्मक मिजाज की ओर बढ़ रहा है। यह सच है कि लघु स्तर पर नकार के नकार की प्रक्रिया भी जारी है लेकिन इन लघु प्रक्रियाओं के समवाय से कोई महत् प्रक्रिया नहीं बन पा रही है। दुखद यह है कि नकार के नकार की यह प्रक्रिया भी अंततः नकारात्मक बनकर ही रह जा रही है।

याद कर लेना होगा कि बीसवीं सदी में देखे गये मानव-मुक्ति के महान स्वप्न बिखराव के दौर से गुजर रहे हैं। भारत ने भी आजादी के आंदोलन के दौरान जो महान स्वप्न देखा, वह आज विखराव के दौर में है। आज के दिन भारत ज्यादा परेशान है। इसके रहिनहारों के मन में तरह-तरह के भ्रमों ने अपना डेरा नहीं, अपना घर जमा लिया है। इसकी विडंबनाएँ भी कम नहीं हैं। भारत आजादी के आंदोलन के दौरान आधुनिक राष्ट्र के रूप में अपने पुनर्गठन की प्रक्रिया से भी गुजर रहा था। आधुनिक राष्ट्र की पुनर्गठन प्रक्रिया से गुजरना आजादी के आंदोलन का सकारात्मक पक्ष बनाता था। भारत का आजादी के लिए किया जानेवाला संघर्ष सिर्फ अंग्रेजों को बाहर करने का अभियान नहीं था। आधुनिक राष्ट्र के रूप में पुनर्गठन की प्रक्रिया के रुक जाने का त्रास साहित्य के समाजशास्त्र में दर्ज हो सकता है। महान साहित्यकारों ने राष्ट्रवाद की जिन त्रुटियों के कारण उससे अपना पल्ला झाड़ने की कोशिश की थी वह हमारे ध्यान में है, लेकिन आज की वैश्विक परिस्थितियों में उन त्रुटियों को दूर करने के साहत्यिक साहस के संयोजन के लिए साहित्य के समाजशास्त्र की संभावनाओं को नये सिरे से तलाशना भी हमारे लिए जरूरी है।

राष्ट्रबोध के लिए सामाजिक बंधुत्व जरूरी है। सामाजिक बंधुत्व को पहले की शब्दावली में भाईचारा कहा जाता है। डॉ. आंबेडकर के शब्दों में, 'भ्रातृत्व का क्या अर्थ है? सभी भारतीयों में भाईचारे की भावना - सभी भारतीय एक हैं। यह वह सिद्धांत है जो सामाजिक जीवन में एकता और सुदृढ़ता प्रदान करता है। इस लक्ष्य को प्राप्त करना कठिन है। मेरी राय में, इस बात में विश्वास करना कि हम एक राष्ट्र हैं, हम एक महान भ्रम को संजोए हुए हैं। असंख्य हजार जातियों में बँटे हुए लोग एक राष्ट्र कैसे बन सकते हैं। जितना जल्द हम अनुभव करेंगे कि सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हम अभी तक एक राष्ट्र नहीं हैं, उसी में हमारी भलाई है। केवल तभी हम एक राष्ट्र बनने की आवश्यकता महसूस करेंगे और गंभीरता से इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उपायों पर विचार करेंगे। इस मुकाम को प्राप्त करना अत्यंत दुष्कर कार्य है - यह संयुक्त राज्य से भी अधिक दुष्कर है। संयुक्त राज्य अमेरिका में जातियों की समस्या नहीं थी। भारत में जातियाँ हैं। जातियाँ राष्ट्र विरोधी हैं। सर्वप्रथम कारण यह है कि वे सामाजिक जीवन में अलगाव पैदा करती हैं। वे इसलिए भी राष्ट्र विरोधी हैं, क्योंकि वे जाति एवं जातियों के बीच ईर्ष्या एवं विद्वेष पैदा करती हैं। यदि हमें वास्तव में एक राष्ट्र बनना है तो हमें इन सारी कठिनाइयों को दूर करना होगा। भाईचारा तभी सार्थक होगा जब एक राष्ट्र होगा। भाईचारा के बिना समानता एवं स्वाधीनता रंग की परतों से

अधिक गहरी नहीं होंगी।’[10] हमारे सहजीवन के लिए राष्ट्रबोध जरूरी है। अपने एक राष्ट्र होने के भावुक भ्रम (Emotional Illusion) से बाहर निकलने का साहस करते हुए सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक राष्ट्र बनने के लिए साहित्य के समाजशास्त्र के विकास की संभावनाएँ तलाशी जा सकती हैं। इसके लिए साहित्य के समाजशास्त्र में संवेदनात्मक प्रज्ञा (Emotional Intelligence) और संवेदनात्मक दक्षता (Emotional Competence) को प्रभावी ढंग से समायोजित करने की प्रविधि विकसित की जा सकती है। साहित्य में इनकी खोज नये सिरे से की जा सकती है। इक्कीसवीं सदी में भारी संख्या में आत्महत्या कर लेने पर मजबूर होनेवाले किसानों के बारे में सुनकर बार-बार 1936 के होरी[11] की याद क्यों आती है? अकाल और भूख से लड़ते हुए समुदाय और उस समुदाय के साथ रहनेवाले अन्य सहजीवी मनुष्येतर प्राणियों के बारे में सुनकर 1952 में प्रकाशित नागार्जुन की कविता ‘अकाल और उसके बाद’[12] की काव्य-पंक्तियाँ मन में क्यों गूँजने लगती है ? हम अब जानते हैं कि `आधुनिक विश्व से भूख को मिटाने के लिए अकालों की सृष्टि की प्रक्रिया को ठीक से समझना जरूरी है। यह केवल अनाजों की उपलब्धता और जनसंख्या के बीच किसी मशीनी संतुलन का मामला नहीं है। भूख के विश्लेषण में सबसे अधिक महत्त्व व्यक्ति या उसके परिवार की आवश्यक मात्रा में खाद्य भांडारों पर सत्वाधिकार स्थापना का है। ... आसपास प्रचूर मात्रा में अनाज उपलब्ध रहते हुए भी यदि किसी व्यक्ति की आय के स्रोत सूख जाएँ तो उसे भूखा रहना पड़ सकता है। कुपोषण, भुखमरी और अकाल सारे अर्थतंत्र और समाज की कार्य-पद्धति से भी प्रभावित होते हैं।’[13] समाज की कार्य-पद्धति का भाव प्रमेय (Emotional Theorem) साहित्य में दर्ज होता है। इस भाव प्रमेय को समझने के लिए साहित्य के समाजशास्त्र की जरूरत है। साहित्य के अपने समाजशास्त्र के बिना व्यापक समाज और साहित्य के बदले हुए सौंदर्यबोध[14] को समझना मुश्किल है। व्यक्ति और समुदाय को सक्रिय करनेवाली संवेदनात्मक प्रज्ञा (Emotional Intelligence) और संवेदनात्मक दक्षता (Emotional Competence) को प्रभावी ढंग से समझने के लिए तथा साहित्य में सन्निविष्ट समाज की कार्य-पद्धति के भाव प्रमेय (Emotional Theorem) को सभ्यता विकास के साथ समायोजित करने की विकसित हो रही प्रविधि को किसी भाषा-समाज के अंतर्वर्त्ती कार्य-समाज एवं ज्ञान-समाज से जोड़ने के लिए आज साहित्य को अपने समाजशास्त्र की दुर्निवार जरूरत है।

जो लोग साहित्य का समाज से गहरा रिश्ता मानते हैं वे लोग समाज और भाषा के रिश्ते को भी उतनी ही गहराई से महसूस करते हैं। साहित्य और कविता के हवाले से कहा जा सकता है कि `भाषा को शक्ति दो यह प्रार्थना करके/ कवि माँगता है बचे रहने का वरदान’[15]। इसलिए साहित्य का समाजशास्त्र व्यावहारिक स्तर पर समाज को भाषा-समाज के रूप में भावान्वित करता है। व्यावहारिक स्तर पर देखा जाए तो अपनी भौगोलिक केंद्रीयता के कारण हिंदी-समाज को भारतीयता के व्यापक संदर्भ में किसी हद तक सांस्कृतिक केंद्रीयता भी प्राप्त है। यह सच है कि ऊपर से एक दिखनेवाला हिंदी-समाज भीतर से कई भाषायी-समाजों का गुच्छा है; जैसे ऊपर से एक दिखनेवाला भारत का

राष्ट्रीय-समाज कई राष्ट्रीयताओं का गुच्छा है। हिंदी-समाज की समकालीन संरचना और कार्य-पद्धति एवं भारत के अन्य भाषा-समाज से उसके तनावों और लगावों को समझने के लिए 1857 को समझना जरूरी है। अर्थात हिंदी-समाज की समकालीनता को समझने के लिए 1857 का पुनर्पाठ उपयोगी हो सकता है। 1857 की नायिका लक्ष्मी बाई के होने का पुनर्पाठ तैयार करें तो सामाजिक जीवन में स्त्री की भूमिका की उपस्थिति हमें चमत्कृत कर देती है। बहरहाल यह कि 1857की घटना ने अपनी तथाकथित विफलता के बावजूद पूरी दुनिया को चकित कर दिया था। 1857 के कारण भारत के प्रति दुनिया का नजरिया और व्यवहार भी बदला था। शासकों ने महसूस किया कि भारत को सही अर्थ में जानना जरूरी है। भारत को नहीं जानने के कारण हुई गलतियों के कारण ही 1857 हुआ। शासकों ने शासन की सुविधा के लिए नये सिरे से भारत को जानने का उपक्रम किया। रामशरण शर्मा `ए हिस्टरी ऑफ एंशिएंट संस्कृत लिटरेचर : मैक्समूलर' के हवाले से कहते हैं कि यद्यपि 1784 ई. में रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल की स्थापना के समय से ही प्राचीन भारतीय ज्ञान की ओर पाश्चात्यों की अभिरुचि जगी, फिर भी 1859 तक प्रकाशित पुस्तकों की संख्या कम ही थी। वे यह भी कहते हैं कि 'पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने भी भारत के अतीत के अध्ययन का प्रथम गंभीर प्रयास 1857-59 के विद्रोह के बाद ही आरंभ किया। सैक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट की कुछेक भूमिकाओं के अवलोकन से प्रकट होता है कि वर्षों तक चलनेवाले इस महान कार्य के पीछे कौन-सी प्रेरणा काम कर रही थी। ब्रिटिश शासकों ने महसूस किया कि यह विद्रोह भारतीय धर्म, रीति-रिवाजों और इतिहास से उनकी अनभिज्ञता के कारण हुआ। उन्हें यह भी लगा कि जब तक मिशनरियों को भारतीय सामाजिक ढाँचे की कमजोरियों का पता नहीं चलेगा तब तक यहाँ के लोगों के मन में ईसाई धर्म के प्रति और उसके माध्यम से साम्राज्य के प्रति श्रद्धा नहीं जगाई जा सकती। मैक्समूलर के अनुसार ईसाई धर्मप्रचारकों के लिए भारतीय धर्मग्रंथों का सही ज्ञान प्राप्त करना उतना ही अनिवार्य था जितना किसी सेनापति के लिए शत्रु देश की जानकारी हासिल करना होता है।'[16] जल्दी ही यह बात समझ ली गई कि ऐतिहासिक कारणों से भारतीयों में प्रशंसकों को सिर पर बैठाने की बुरी लत है। उन्होंने भारतीयों की हर अच्छी चीजों की प्रशंसा तो की ही अपनी सुविधा के लिए बुरी चीजों की प्रशंसा करने में भी वे पीछे नहीं रहे। होशियारी के साथ टूटी हुई सारी अच्छी प्रथाओं और सामाजिक कार्यपद्धतियों के स्रोत भारत की प्राचीन या फिर सारी अच्छी संभावनाओं को आधुनिकता की परियोजनाओं में, अर्थात मुसलमानों के सत्ता में आने के पहले और अंग्रेजों के आने के बाद, खोज निकाला गया। अर्थात, ऩकारात्मकताओं के स्रोत मुसलमानों के शासनकाल में और सकारात्मकताओं के स्रोत भारत की प्राचीन समाज-व्यवस्था या फिर अंग्रेजों के साथ आई अर्वाचीन सामाजिक संभावनाओं में स्वीकारने की शुरुआत हुई। नतीजा द्वि-राष्ट्रीयता की सिद्धांतिकी सामने आई और देश के बँटने के पहले देशवासी बँट गये। इसी तरह आज किसी-किसी राज्य के कुछ-कुछ लोग और राजनेता भारत की आर्थिक विकास में अपना और अपने राज्य का योगदान सबसे ज्यादा बताकर दूसरे राज्य और राज्य के लोगों को आर्थिक दुर्गति के कारण के रूप में प्रचारित कर

रहे हैं; न सिर्फ प्रचारित कर करहे हैं, बल्कि तरह-तरह से प्रताड़ित भी कर रहे हैं। क्या हम आर्थिक विकास के आधार पर किसी नये विभाजन की ओर बढ़ रहे हैं? अप्रिय होने पर भी यह सवाल है और इसका हल ढूढ़ने से कतराकर निकल जाना खतरनाक साबित होगा। इस खतरा से बचने के लिए साहित्य के समाजशास्त्र की उपयोगिता समझी जा सकती है।

तात्पर्य यह कि राष्ट्रवाद के लिए जिस गौरव-बोध की उस समय जरूरत थी उसके लिए इतिहास में जाना जरूरी था। इतिहास के कालखंड को अतिक्रमित कर इतिहास से प्रेरणा प्राप्त करने के जोखिम को अवहेलित करते हुए, राष्ट्र-गौरव के लिए अतीत में जाना मुफीद समझा लिया गया। स्वभावतः भारत के उदार विद्वान भी गौरव-बोध के लिए मुसलमानों के सत्ता में आने के पहले की, समाज व्यवस्था में विचरने लगे। इस प्रवृत्ति के कारण हमारे राष्ट्रवाद के गर्भ में ही वैमनस्य का बीज पड़ गया। इस बीज का प्रस्फुटन पुनर्जागरण में तो हुआ ही इसके कुछ दाने छिटककर नवागरण के क्षेत्र में भी आ गिरे। राष्ट्रवाद के क्षेत्र में वैमनस्य के बीज का प्रस्फुटन देखकर ही रवींद्रनाथ ठाकुर और प्रेमचंद ने राष्ट्रवाद से अपना पल्ला झाड़ लेना चाहा होगा। 'मैं किसी एक राष्ट्र के खिलाफ नहीं हूँ, बल्कि मेरा विरोध राष्ट्र की सामान्य अवधारणा से है।'[17] इसी में आगे कहते हैं कि 'भारत ने कभी भी सही अर्थों में राष्ट्रीयता हासिल नहीं की। मुझे बचपन से ही सिखाया गया कि राष्ट्र सर्वोच्च है, ईश्वर और मानवता से भी बढ़कर। आज मैं इस अवधारणा से मुक्त हो चुका हूँ और दृढ़ता से मानता हूँ कि मेरे देशवासी देश को मानवता से भी बड़ा बताने वाली शिक्षा का विरोध करके ही सही अर्थों में अपने देश को हासिल कर पाएँगे।'[18] डॉ. आंबेडकर ने चिंता के साथ लक्षित किया था कि 'भारतीय समाज में दो बातों का पूर्णतः अभाव है। इनमें से एक समानता है। सामाजिक क्षेत्र में हमारे भारत का समाज वर्गीकृत असमानता के सिद्धांत पर आधारित है जिसका अर्थ है कुछ लोगों के लिए उत्थान एवं अन्यों के लिए अवनति। आर्थिक क्षेत्र में हम देखते हैं कि कुछ लोगों के पास अथाह संपत्ति है जबकि दूसरी ओर असंख्य लोग घोर दरिद्रता के शिकार हैं। 26 जनवरी 1950 को हम लोग एक विरोधाभासी जीवन में प्रवेश करने जा रहे हैं। राजनीति के क्षेत्र में हमारे बीच समानता होगी। राजनीति में हम एक व्यक्ति एक मत एक मूल्य के सिद्धांत को स्वीकृति देंगे। पर अपने सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में वर्तमान सामाजिक एवं आर्थिक संरचना के चलते एक व्यक्ति एक मूल्य के सिद्धांत को अस्वीकार करना जारी रखेंगे। हम कब तक इस विरोधाभासी जीवन को जीते रहेंगे, अपने सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में समानता को अस्वीकार करते रहेंगे? यदि इसे हम लंबे समय तक अस्वीकार करना जारी रखते हैं तो हम अपने राजनीतिक लोकतंत्र को जोखिम में डालकर ही वैसा करेंगे। हमें शीघ्रातिशीघ्र इस विरोधाभास को दूर करना होगा, अन्यथा जो लोग असमानता के शिकार होंगे वे राजनीतिक लोकतंत्र की संरचना को उखाड़ फेकेंगे, जिसे इस सभा ने कठोर परिश्रम से तैयार किया है।'[19] राष्ट्र की संरचना में ही उपस्थित राष्ट्रीय लोकतंत्र के विष-वृक्ष के रूप में सामाजिक-आर्थक विषमता को डॉ. आंबेडकर ने गहराई से रेखांकित किया था।

राष्ट्र-पिता की उपाधि से संबोधित किये जानेवाले महात्मा गाँधीने भी राष्ट्रवाद के गर्भ में पल रहे खतरों को अपने तरीके से पहचाना और राष्ट्र-राज्य की निर्मिति पर भरोसा करने के बदले समुदाय की संभावनाओं को अधिक विश्वसनीय समझा। अन्य प्रगतिशीलों की तरह भारत के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने भी इस खतरे को महसूस किया और आधुनिकता की अन्य परियोजनाओं पर अपने विश्वास के बल इस पर खतरे को झेल ले जाने का जोखिम उठाया। विश्वास और आस्था अमीबा की तरह होते हैं, बार-बार खंडित होकर भी मरते नहीं हैं। विश्वास और आस्था सकारात्मक हुए तो परिणाम शुभ होते हैं और नकारात्मक हुए तो सर्वनाशी।

भारतीय

राष्ट्रवाद की डोर पकड़कर चलनेवाले स्वतंत्रता आंदोलन ने भारत की एकता, समृद्धि और स्वतंत्रता में वैमनस्य और विखराव को खतरनाक बाधा माना। आजादी के आंदोलन के दौरान सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक परियोजनाओं का अभिमुख वैमनस्य और विखराव के कारकों को दूर करने के प्रति सचेत भाव से समर्पित था। जैसा कि आंदोलनों में अक्सर होता है, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का भी बहुत बड़ा हिस्सा भावुकताओं से आच्छादित था। भारत को एकता चाहिए थी। भारत हितैषियों ने एकता पर बहुत जोर दिया। समझ में आने लायक है कि किन कारणों से एकता पर जितना जोर दिया गया उतना जोर समानता पर नहीं दिया गया। भारतीय संस्कृति में विरुद्धों के युग्म को साधने का जैसा आग्रह रहा है, समान को अपने में सम्मानपूर्वक समाहित रखे रहने का वैसा संकल्प सक्रिय नहीं रहा है। भारत के संविधान में अवसर की समानता के प्रति पूर्ण सम्मान है। अवसर तो जीवन से अभिन्न होकर प्रकट होते हैं। जीवन में समानता न हो तो अवसर की समानता कैसे सुनिश्चित हो सकती है? जीवन में समानता सुनिश्चित होती है सामजिक समानता से और सामाजिक समानता सुनिश्चित होती है आर्थिक समानता से। आर्थिक स्थिति ही राष्ट्रीय संसाधनों तक पहुँच बनाने की क्षमता प्रदत्त करती है। राष्ट्रीय संसाधनों तक पहुँच बनाने की क्षमता के बिना अवसर की समानता का क्या अर्थ हो सकता है! पारंपरिक रूप से आर्थिक असमानता को व्यक्तियों और कुछ हद तक समुदायों से संदर्भ में ही देखा जाता रहा है। आर्थिक असमानता के आंचलिक स्वरूप और उसके परिणामों पर गहराई से विचार करने को उतना महत्त्व अब तक नहीं दिया जा सका है। यह सच है कि विकास के असंतुलन पर नजर तो रखी गई लेकिन उससे बचने का कोई उपाय नहीं किया गया। यहाँ एक भावुक भ्रम (Emotional Illusion) यह पनपा कि किसी अंचल का विकास या पिछड़ापन अपने निकृष्टतम अर्थों में उस अंचल की सामाजिक कार्य-पद्धतियों और उस अंचल के भूमिपुत्रों के अनन्य पराक्रम का ही परिणाम है या होता है। इस बात को भी भुला दिया गया है कि इन अंचलों में विकास के लिए जरूरी भौतिक संसाधन, श्रम संसाधन और बौद्धिक संसाधन पूरे देश से मिलते रहे हैं और मिल रहे हैं। पूरे देश में फैले इन भौतिक

संसाधनों पर अंचल के लोगों का अपना अधिकार माना बताया जा रहा है और इन अंचलों की आर्थिक गतिविधियों पर पूरे देश में फैले मानव-संसाधनों का किसी भी प्रकार के हक से इनकार का वातावरण बनाया जा रहा है। विकसित क्षेत्रों में रोजी-रोजगार के लिए आनेवाले लोगों को प्रवासी के रूप में प्रचारित किया जा रहा है। बौद्धिक विभ्रम के कारण आबादी की गत्यात्मकता और प्रव्रजनन-आव्रजनन का अंतर समझ के दायरे से बाहर है। आव्रजनन-प्रव्रजनन का आधार राज्यों के प्रशासनिक सीमांकनों को बनाया जा रहा है। राज्यों का प्रशासनिक सीमांकन भाषा के आधार पर तय किया गया था। भाषा एक सांस्कृतिक उपकरण है। भारत में राज्यों का सीमांकन प्रशासनिक प्रक्रिया में सांस्कृतिक उपकरण के इस्तेमाल से हुआ। भाषायी आधार पर भारत के आंतरिक पुनर्गठन की प्रशासनिक प्रक्रिया के राजनीतिक खतरों पर उस समय भी सचेत लोगों ने ध्यान खींचने की कोशिश की थी। यह बात समझे जाने की है भारत के विभिन्न राज्य सांस्कृतिक इकाई ज्यादा हैं, राजनीतिक इकाई कम। प्रसंगतः, मुंबई को महाराष्ट्र राज्य में रखने के लिए दी गई शहादत की स्मृति को चमकाया जा रहा है और भारत को भारत बनाने के लिए दी गई शहादत को विस्मृत किया जा रहा है। पूरे देश में फैले कल-कारखानों को कच्चा माल मुहय्यैया होने देने को लिए कितने लोग उजड़ गये बाजार के कोलाहल में इसे याद करने की मुहलत किसे है!

वैश्विक स्तर पर हम जानते और मानते हैं कि रोजगार के अभाव को दूर करना, पर्यावरण क्षरण को रोकने का कारगर उपाय करना, अस्त्र-शस्त्र के घातक व्यापार को रोकना, परमाणु हथियारों को समाप्त करना, महामारी का मुकाबला करना, आव्रजनन-प्रव्रजनन तथा आबादी की गत्यात्मकता से उत्पन्न समस्याओं से निबटना, तकनीकी विकास को समग्र मानव हित से जोड़ना, आतंकवाद और भूख एवं कुपोषण से लड़ना अकेले किसी एक राष्ट्र के लिए भी संभव नहीं है। फिर हम यह कैसे उम्मीद कर सकते हैं कि भारत के राज्य अकेले-अकेले इन समस्याओं का हल ढूढ निकाल लेंगे! वैश्विक और राष्ट्रीय स्तर पर एक होकर किये गये प्रयासों से ही कोई उम्मीद की जा सकती है। भारत इन दिनों परेशान है कि कैसे राष्ट्र और राज्य के द्वंद्व को समझते हुए राष्ट्रीय समस्याओं के निदान के लिए अपने क्षेत्रीय आचरण पर काबू पा सके। कहना न होगा कि 'मधुरी बानी' बोलनेवाली उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण की वैश्विक प्रक्रिया के अंतर्गत विकसित 'तिरगुन फाँस' राष्ट्र और राज्यव्यवस्था की विफलताओं के हवाले से सभ्यता संररचना की मौलिक इकाई के रूप में समुदायों की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए भावुक भ्रम (Emotional Illusion) का ताना-बाना बुन रही है। सामुदायिक वैधता के लिए इस भावुक भ्रम के भटकावों से बचना बेहद जरूरी और जटिल मामला है। सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक

दृष्टि से एक राष्ट्र बनने के रास्ते में नये ढंग से बाधक बन रही राष्ट्र विरोधी एवं विभेदकारी तथा जाति एवं जातियों के बीच ईर्ष्या एवं विद्वेष पैदा करनेवाली कुप्रवृत्तियों से निबटने के लिए संवेदनात्मक दक्षता (Emotional Competence) का सचेत रूप से साहित्यक विन्यास तैयार करने में साहित्य के अपने समाजशास्त्र की विभिन्न भूमिकाओं को पहचाना जाना चाहिए। नहीं तो असमानता और विषमता के शिकार समुदाय भारी शहादत के बाद हासिल राजनीतिक लोकतंत्र की संरचना को स्थाई रूप से क्षतिग्रस्त कर दे सकते हैं। अंत में एक बार फिर यह कि व्यक्ति और समुदाय को सक्रिय करनेवाली संवेदनात्मक प्रज्ञा (Emotional Intelligence) और संवेदनात्मक दक्षता (Emotional Competence) को प्रभावी ढंग से समझने एवं साहित्य में सन्निविष्ट समाज की कार्य-पद्धति के भाव प्रमेय (Emotional Theorem) को सभ्यता विकास के साथ समायोजित करने की विकसित हो रही प्रविधि को किसी भाषा-समाज के अंतर्वर्त्ती कार्य-समाज एवं ज्ञान-समाज से जोड़ने के लिए साहित्य के अपने समाजशास्त्र की जरूरत है। समाज यदि आर्थिक भीत्ति पर निर्मित मनुष्य की उच्चतर प्रकृति की नैतिक और आध्यात्मिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति है तो उसकी इच्छाओं और महत्त्वाकांक्षाओं के नियंत्रण एवं सामंजस्यपूर्ण विकास तथा अन्यों के प्रति निष्काम प्रेम के संचार लिए संवेदनात्मक प्रज्ञा (Emotional Intelligence) और संवेदनात्मक दक्षता (Emotional Competence) से संपुष्ट साहित्य के अपने समाजशास्त्र की जरूरत को स्वीकारना ही होगा। इसीलिए, इस छोटे-से लेख में साहित्य के अपने समाजशास्त्र की जरूरत को समझने का प्रस्ताव और प्रयास किया गया है; साहित्य के अपने समाजशास्त्र और उसके दर्शन की सांगोपांग रूपरेखा की तैयारी के लिए सक्षम और प्रज्ञावान विद्वानों की आतुर प्रतीक्षा ही अभी हमारे हिस्से में है।

====================

1गीता, अध्याय - 18 (66)
2देवीशंकर अवस्थी, आसोचना और आलोचना, समसामयिक सांस्कृतिक गतिविधि और साहित्यिक समीक्षा, वाणी प्रकाशन 1995
3एकांत श्रीवास्तव, जो कुरुक्षेत्र पार करते हैं, बीज से फूल तक, राजकमल प्रकाशन 2003
4तुलसीदास, रामचरितमानस, किष्किंधाकांड (कठिन भूमि कोमल पद गामी। कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी।।)
5Public Sphere में सक्रिय Public Mind
6आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास
7मंगलेश डबराल, हम जो देखते हैं, पिता की तस्वीर
8प्रेमचंद, विविध प्रसंग - 2, राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता, 27 नवंबर 1933
9रवींद्रनाथ ठाकुर, भारत में राष्ट्रीयता, सामाजिक क्रांति के दस्तावेज-2, सं. शंभुनाथ, वाणी प्रकाशन, 2004

10भीमराव अंबेडकर, संविधान सभा में दिया गया भाषण, नवंबर 1949, सामाजिक क्रांति के दस्तावेज-2, सं. शंभुनाथ, वाणी प्रकाशन, 2004

11प्रेमचंद के प्रसिद्ध उपन्यास 'गोदान' का एक पात्र

12नागार्जुन रचनावली-1, सतरंगे पंखोंवाली, 1952, अकाल और उसके बाद

13प्रो. अमर्त्य सेन- आर्थिक विकास और स्वातंत्र्य: अकाल और अन्य आपदाएँ, राज प्रकाशन 2001

14प्रेमचंद ने 1936 में भारत में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना बैठक के अध्यक्षीय भाषण में हुस्न के मय्यार बदलने की जरूरत रेखांकित की थी।

15रघुवीर सहाय (सं. सुरेश शर्मा) : एक समय था - भाषा का युद्ध - 1995

16रामशरण शर्मा : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ:प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्था पर इतिहास लेखन 1930 ई.तक : राजकमल प्रकाशन - 1992/2001

17रवींद्रनाथ ठाकुर, भारत में राष्ट्रीयता, सामाजिक क्रांति के दस्तावेज-2, सं. शंभुनाथ, वाणी प्रकाशन, 2004

18रवींद्रनाथ ठाकुर, भारत में राष्ट्रीयता, सामाजिक क्रांति के दस्तावेज-2, सं. शंभुनाथ, वाणी प्रकाशन, 2004

19भीमराव अंबेडकर, संविधान सभा में दिया गया भाषण, नवंबर 1949, सामाजिक क्रांति के दस्तावेज-2, सं. शंभुनाथ, वाणी प्रकाशन, 2004